आयु का वेद - आयुर्वेद

Sharada Kusum Mishra

Department of Darshan & Dharma, Banaras Hindu University, Varanasi-5

Abstract

Two of the earliest treatises which systematically deal with Ayurveda or 'Science of Life'. In Indian medicine are admittedly the Caraka Samihta and the Susruta Samhita, the basic texts of both of which have been dated well into the first mellennium B.C. Well-set classification, codification and presentation as full-fledged textbooks characterise both the texts. Both speak of a long tradition of acaridae-s who had preserved and handed the discipline down the ages and had, obviously, made their own contribution to the further systematisation of the science. It should be instructive to investigate how far the presently perfected Ayurvedic systems are rooted in the mantras of the Vedic Samhitas which date back, at least, to the third millennium B.C. This investigation would also give a clue to the systematisation during the later ages, not only in the basic concepts and theories, diagnosis of ailments and their cure but also of the drugs used and the practices adopted during Vedic times.

वेद शब्द का अर्थ है ज्ञान-साधन तथा प्राप्ति साधन, अतः आयु का ज्ञान तथा प्राप्ति का साधन आयुर्वेद कहलाता है। जैसा कि सुश्रुत ने कहा है- 'आयु जिसमें विचार्य हो या जिसमें आयु की प्राप्ति हो वह आयुर्वेद है'।[१]

शरीर और प्राण के संयोग को आयु कहते हैं-

शरीर के साथ जो प्राण का संयोग है उसे आयु कहते हैं। प्राणी उसी समय तक आयुष्मान रहता है जब तक उसके शरीर में प्राण रहते हैं। प्राण निकल जाने पर आयु नष्ट हो जाती है। प्राण ही आयु का प्रारम्भ है जो अपान से मिलकर प्राणियों में जीवन का स्पन्दन करता है। इस प्रकार आयु का अर्थ श्वास प्रश्वास की शरीर में स्थिति और अवधि है।

'भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति'[२] के अनुसार जो त्रिकाल गर्भित है जो वेद प्रतिपाद्य है वह आयु के स्वरूप, आयु की रक्षा, वृद्धि एवं स्वस्थ जीवन से सम्बद्ध वेद विज्ञान आयुर्वेद है। इस संसार में जो व्यक्ति स्वस्थ रहते हुए लंबी आयु को सुखपूर्वक भोगना चाहे उसे आयुर्वेद का अध्ययन करना चाहिये। मनुष्य जीवन का लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति है परन्तु इनमें से एक को भी सिद्ध करने के लिए निरोगी काया अत्यावश्यक है। चूंकि रोग प्राणों और सुख के विघातक हैं इसलिए रोगों को विधिपूर्वक समूल नष्ट करना आवश्यक है।

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते।।[३]

अर्थात कैसा आहार-विहार हमारे लिये हितकारी है और क्या हमारे लिये अहितकर है। कौन से उपाय हमें सच्चा सुख देने वाले हैं और कौन से हमें दुःख देने वाले हैं। दीर्घायु और अल्पायु के कौन से लक्षण हैं? आसन्न मृत्यु (जिसकी मृत्यु समीप हो) की क्या पहचान है? यह सब आयुर्वेद के अध्ययन से पता किया जाता है।

आयुर्वेद का इतिहास

श्रीमद् भागवत तृतीय स्कन्द के अनुसार श्रीमन्नारायण पर ब्रह्मस्वरूप है, उनके नाभिकरण से स्फुरित स्वयंभू ब्रह्मा जी शब्द ब्रह्मात्मक है। ब्रह्मा जी के पूर्वमुख से ऋग्वेद और आयुर्वेद की अभिव्यक्ति मानी गयी है (अतएव आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना गया है)। ब्रह्मा जी से प्रजापति को, प्रजापति से अश्विनी कुमारों को, और उनसे भगवान इन्द्र को आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त हुआ पर जब देहधारियों में रोग उत्पन्न होने आरम्भ हुए तब तपस्वी स्वाध्यायी ऋषियों का हृदय प्राणियों की पीड़ा को देखकर विचलित हो उठा, तब उन्होंने भगवान इन्द्र से इस आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने गुरू-शिष्य परंपरा के द्वारा इसका (आयुर्वेद) प्रचार प्रसार कर मनुष्यों को आरोग्य प्रदान किया।

प्राचीनतम ऋग्वेद में आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त का उल्लेख है जैसा कि निम्नलिखित प्रार्थना से स्पष्ट है। ऋषि यहां प्रार्थना करते हैं-

हे आश्विन कुमारों हमारे लिए तीन दिव्य औषधियाँ दीजिए - तीन पृथ्वी की तथा तीन जल में से दीजिए, मेरे पुत्र के

Vijnana Bharati

कल्याण और रक्षा के निमित्त तीन धातुओं का कल्याण सम्पादन कीजिए।

यहां त्रिधातु शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य सायण ने लिखा है- 'त्रिधातु-वात, पित्त, श्लेष्म धातुत्रय शमनं विषम्। वातपित्त श्लेष्म (कफ) के देवता सूर्य, चन्द्र, अनिल है और वे तीनों ही प्रकृति (साम्यावस्था) में स्थित पुरुष को अविकृत इन्द्रिय, बल, वर्ण, सुख और दीर्घायु प्रदान करते हैं। इन्हीं बातों का उल्लेख सुश्रुत ने हजारों वर्ष बाद अपनी संहिता में किया।

आयुर्वेद को धनुर्वेद के समान उपवेद माना गया है। अथर्ववेद के समय आयुर्वेद का प्रधान्य समाज में इतना अधिक था कि उस समय हजारों की संख्या में वैद्यजन विचरण करते थे- जैसा कि निम्नलिखित वेद वाक्य से स्पष्ट है- शतं हि अस्य भिषजाः सहस्रम् उत वीरुधः।[४] इसलिए आयुर्वेद को अष्टादश विद्याओं में गिना गया है।

सोऽयं आयुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्

स्वभावसंसिद्धलक्षणगत्वात् भाव स्वभावनित्यत्वाच्च।[५]

रोग पीड़ा का इतिहास मानव जीवन के इतिहास के साथ जुड़ा है। रोगों का निदान और उसकी चिकित्सा मानव प्रकृति और उसकी अनुभूति से करता आ रहा है, इसलिये आयुर्वेद का इतिहास मानव जीवन के इतिहास के समान अति प्राचीन है।

आयुर्वेद और दर्शन

वस्तुतः आयुर्वेद में जो दार्शनिक विचार है वह किसी दूसरे (वेदान्त या बौद्ध जैसे) का दर्शन नहीं अपितु आयुर्वेद का अपना दर्शन है। इतना अवश्य है कि यह दर्शन प्राचीन भारतीय दर्शनों से घनिष्ठ रूप से अनुप्राणित है, परन्तु जीवन के विज्ञान (आयु = जीवन, वेद = विज्ञान) के नाते इस औषधि शास्त्र का पिण्ड और ब्रह्माण्ड के प्रति जो व्यापक दृष्टिकोण है वही इस शास्त्र के दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित है।

आयुर्वेद में दर्शन क्यों? रोगों को ठीक करने के लिए, रोग क्या है? रोग कैसे हुआ? कहां से आया? कैसे आया? कैसे जायेगा? रोगी जिस संसार में है वह क्या है? उसका उपादान कैसे हुआ? संसार और मानव में क्या भेद है? सुख-दुःख कैसे होते हैं? मानव सदा सुखी कैसे बने?

ठीक ऐसे प्रश्न - यज्जः पुरुषीय सभा में रोग निवारण के पूर्व आचार्य प्रस्तुत करते हैं। आज भी विद्वान इसे गूढ विचार कहते हैं, जो दर्शन के तत्त्व विद्या (Ontology), ज्ञान विद्या (epistemology), नीतिशास्त्र (Ethics) और तर्क विद्या (Logic) आदि दार्शनिक विषयों में विचार करके उनमें कठिनाइयों को सदा हटाने की चेष्टा करता है। इसलिये कहा जाता है कि आयुर्वेद का दृष्टिकोण विशाल और व्यापक है। जिसकी दृष्टि जितनी व्यापक होगी, उसका दर्शन उतना ही विशाल कहा जायेगा।

क्या वैद्यों का कोई दर्शन है? - इस प्रकार के प्रश्न के लिये डॉ० एस०एन० दासगुप्ता का कहना है कि जिस प्रकार आधुनिक चिकित्सा शास्त्र के आधार भौतिक विज्ञान (Physics), तथा रसायन विज्ञान (Chemistry) तथा प्राणि विज्ञान (Biology) है, उसी प्रकार आयुर्वेद का आधार दर्शन है। विशेषतः न्याय, वैशेषिक और सांख्य दर्शन। सांख्य की प्रकृति, सृष्टि प्रक्रिया तीन गुण, अहंकार, पंचभूत आदि सिद्धान्त आयुर्वेद के भी मूल सिद्धान्त हैं। उदाहरणार्थ आयुर्वेद का महत्त्वपूर्ण त्रिधातु (वात, पित्त, कफ) सिद्धान्त सांख्य के त्रिगुण (सत्त्व, रज, तम) सिद्धान्त के ऊपर प्रतिष्ठित है।

आयुर्वेद की प्रवृत्ति प्रकृति के लिये होती है

प्रकृति का अर्थ है धातु, साम्य, आयुर्वेद की प्रवृत्ति धातु साम्य के प्रयोजन से होती है। जैसा कि चरक ने कहा है- 'इसका प्रयोजन है- स्वस्थ की, स्वास्थ्य की रक्षा और रोगों के विकार का प्रशमन'[६] स्वस्थ पुरुष में धातु साम्य रूप स्वास्थ्य की रक्षा की जाती है जिससे वैषम्य रूप विकार का सर्वथा प्रतिषेध हो। इस प्रकार रोगी में दोष वैषम्य का निवारण कर शरीर को पुनः प्राकृत स्थिति में लाया जाता है। इस प्रकार दोनों अवस्थाओं में धातु साम्य ही आयुर्वेद की प्रवृत्ति का कारण है। जिन क्रियाओं से धातु सम होते है वह रोग की चिकित्सा कही जाती है और वह वैद्यों का कार्य है तथा धातु वैषम्य की स्थिति में वैद्य आदि चतुष्पाद की धातु साम्य के प्रयोजन से प्रवृत्ति चिकित्सा कहलाती है। स्पष्ट है कि धातु साम्य ही आयुर्वेद का अन्तिम लक्ष्य है।

आयुर्वेद के तीन पदार्थ है, सत्त्व, आत्मा और शरीर

पद अर्थात शास्त्र उसके अर्थ (वर्ण्य विषय) पदार्थ कहलाते हैं। प्रत्येक शास्त्र के पदार्थ भिन्न-भिन्न होते हैं। यथा न्याय शास्त्र के प्रमेय, प्रमाण आदि सोलह और वैशेषिक के द्रव्य आदि छः पदार्थ होते हैं। इसी प्रकार आयुर्वेद में तीन पदार्थ हैं- सत्त्व, आत्मा और शरीर। कुछ लोग सामान्य, विशेष, गुण, द्रव्य, कर्म और समवाय इन छः को आयुर्वेदीय-पदार्थ कहते हैं किन्तु वस्तुतः वे वैशेषिक के पदार्थ हैं; आयुर्वेद के नहीं।

Vimana Bharati

वस्तुत: सत्त्व, आत्मा और शरीर ये तीन ही आयुर्वेद के पदार्थ हैं वहाँ इनका पृथक-पृथक निर्देश उपलब्ध होता है और उनके संयोग भूत पुरुष का भी अधिकरण के रूप में वर्णन है। जैसा कि चरक ने कहा है- "सत्त्व आत्मा और शरीर" ये त्रिदण्ड के समान है जिनके संयोग से लोक अस्तित्व में आता है, और जिस पर सभी प्रतिष्ठित रहते हैं। वह (संयुक्त रूप) पुरुष और चेतन तथा इस वेद (आयुर्वेद) का अधिकरण है। पुरुष के निमित्त ही आयुर्वेद का आविर्भाव हुआ है। अत: पुरूष के घटक सत्त्व आत्मा और शरीर ये तीन पदार्थ आयुर्वेद में हैं। यह सिद्ध होता है। सत्व अन्त:करण है, शरीर व्याधि और सुख का आश्रय है तथा आत्मा चेतना धातु के रूप में प्रसिद्ध है।

सत्व अन्त:करण, मन-बुद्धि-अहंकार स्वरूप है तथा प्राण से लक्षित होता है

प्राय: सत्व, मनस और चेतस् ये शब्द पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त होते हैं जैसा कि चरक ने कहा है- 'कुछ लोग मन को अतिन्द्रिय मानते हैं जिसे सत्त्व और चेतस् भी कहते हैं'।[७]

वस्तुत: 'सत्त्व' शब्द समस्त अन्त:करण का बोधक है जिसमें मन, बुद्धि और अहंकार तीनों आ जाते हैं। प्राण इसका लक्षण है क्योंकि सत्व के रहने पर प्राण छूट जाते हैं।[८] अमरकोश में भी 'सत्व' प्राणार्थक है।[९] इस प्रकार से वेदान्त नीति से सत्त्व में प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय इन तीनों कोशों का ग्रहण है।

इसी कारण आयुर्वेद में प्राय: सत्त्व शब्द का ही व्यवहार होता है। यथा 'सत्त्वावजय', 'सत्त्वपरीक्षा' आदि। मन का लक्षण चरक ने इस प्रकार किया है- 'आत्मा, इन्द्रियों और विषयों का सन्निकर्ष होने पर भी जिसके रहने पर ज्ञान हो और न रहने पर ज्ञान न हो वह मन है।'[१०] अत: आत्म इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष होने पर ज्ञान का भाव और अभाव मन का लक्षण है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा, इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष होने पर भी यदि वहाँ मन हो तो ज्ञान होगा और यदि न हो तो ज्ञान नहीं होगा। इसी कारण एक ही समय में कई इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान उत्पन्न नहीं होता यथा जब कोई पुरुष देख रहा होता है तब उसी समय वह सुनता नहीं बल्कि कुछ समय बाद सुनता है किन्तु यह काल अत्यन्त सूक्ष्म होता है। इसी से यह सिद्ध होता है कि मन एक और अणु है। कहा भी है- अणुत्व और एकत्व मन के दो गुण हैं।[११] मन यदि अनेक और विभु होता तो एक साथ ही सब इन्द्रियों का ज्ञान होता। इसी के अनुसार गौतम ने भी मन का लक्षण निरूपित किया है। यथा 'एक काल में (सभी विषयों के) ज्ञान का उत्पन्न न होना मन का लक्षण है।[१२] सांख्य दर्शन में 'मन संकल्प करने वाला है' ऐसा लक्षण किया गया है।[१३]

बुद्धि अध्वसाय अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान है।[१४]

'अहंकार' अभिमान है।[१५] कारणों का उल्लेख करते हुए[१६] अहंकार का पृथक उल्लेख नहीं है, ऐसे स्थलों में उसे बुद्धि में ही अन्तर्भूत समझना चाहिये।

आत्मा अविनाशी, निर्विकार, निवयव और अपरिछिन्न चेतन धातु है

शरीर में चेतना का आधार है अत: यह चेतन धातु कहलाता है। इसे ही एक पुरुष कहा गया है- 'चेतनाधातु एक पुरुष है'।[१७] दीर्घञ्जीवितीय अध्याय[१८] में 'आत्मा निर्विकार; सत्त्व, भूतगुण और इन्द्रियों से परे, चैतन्य कारण, नित्य तथा सभी क्रियाओं का द्रष्टा (साक्षी) है।'[१९] आत्मा निर्विकार अर्थात् रोगरहित और परिणामरहित है जबकि शरीर और मन विकारयुक्त हैं। आत्मा निरवयव अर्थात् अखण्ड है। जिसका अवयवों में विभाग नहीं किया जा सकता। जबकि शरीर अनेक अवयवों का समूह है। आत्मा व्यापक है अर्थात् देशकाल की सीमा में उसे बांधा नहीं जा सकता, जबकि शरीर सीमित है। विभु आत्मा जब गर्भशरीर में उतरता है तब शरीर में चैतन्य आता है और जब वह चला जाता है तब शरीर मृतपिण्ड के समान अचेतन हो जाता है। इसलिये कहा है- 'उसके चले जाने पर शरीर सूने घर की तरह और अचेतन हो जाता है, केवल पंचभूत रह जाने के कारण 'पंचतत्त्व को प्राप्त हुआ' ऐसा कहा जाता है।'[२०]

आत्मा चैतन्य की अभिव्यक्ति इन्द्रियों के द्वारा होती है, 'इन्द्रिय' का अर्थ है इन्द्र अर्थात् आत्मा का लिंग कारण होने से। पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और मन उभयात्मक है, इस प्रकार ग्यारह इन्द्रियां हैं। ज्ञानेन्द्रियां विषयों का ग्रहण करती है तथा कर्मेन्द्रियां चेष्टा उत्पन्न करती है, इसी कारण न्याय दर्शन के अपुसार चेष्टा और इन्द्रियार्थों का आश्रय शरीर है।'[२१]

पदार्थत्रय के प्रसंग में शरीर में अन्तर्भूत होने के कारण इन्द्रिय का पृथक उल्लेख नहीं है। मन और बुद्धि अन्त:करण तथा ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय है।'

सभी द्रव्य और शरीर पञ्चभौतिक हैं-

सभी द्रव्य पञ्चभौतिक अर्थात् पञ्चमहाभूत समुदाय से निष्पन्न हैं। शरीर भी पञ्चभौतिक है, महाभूत विकारों के अनुसार

Vijnana Bharati

उसके अंगों एवं अवयवों का विभाग निम्नांकित रूप के अनुसार किया गया है। यथा- आकाशीय शब्द- श्रोत्र, लाघव, सौक्ष्म्य और विवेक; वायव्य- स्पर्श, स्पर्शेन्द्रिय, रौक्ष्य, प्रेरण, धातुव्यूहन और शरीर चेष्टायें; आग्नेय रूप- चक्षु, प्रकाश पंक्ति और उष्णता; आप्य रस- रसेन्द्रिय, शैव्य, मार्दव, स्नेह क्लेद तथा पार्थिव गन्ध- घ्राण, गौरव, स्थैर्य और मूर्ति।[२२]

द्रव्य और शरीर का संघटन समान है इसका ज्ञान होने से आहार द्रव्यों और औषध द्रव्यों का प्रयोग अभीष्ट कर्मों की सिद्धि के लिए किया जाता है जैसा कि सुश्रुत ने कहा है - 'जो गुण द्रव्यों में हैं वहीं शरीर में हैं अतः शरीरावयवों की स्थिति, वृद्धि और क्षय द्रव्यों के कारण होता है।'[२३]

'जिसकी क्रिया दोष, धातु और मल पर आधारित है तथा जो पञ्चभूत में प्रतिष्ठित है' शरीर कहलाता है। शरीर पञ्चभूतों में प्रतिष्ठित है अर्थात् भौतिक आधार पर स्थित है। यह नरकङ्काल पञ्चभौतिक एवं जड़ है। सुश्रुत ने कहा है- 'दोष, धातु और मल शरीर के मूल हैं।'[२४] शरीर के जो दो लक्षण- पञ्चमहाभूत विकार समुदायात्मक और दोष-धातु मल मूत्र दिये गये हैं उनमें पहला रचनात्मक तथा दूसरा क्रियात्मक है। यह क्रिया जीवन पर्यन्त चलती रहती है, मृत्यु होने पर केवल भौतिक आधार ही बच जाता है।

प्राणात्मक एवं प्रकृति और विकृति के हेतु दोष कहलाते हैं

दोष प्राणात्मक हैं अर्थात् प्राण जिनकी आत्मा अविनाभाव संबन्ध से उपादान कारण है क्योंकि प्राणों के बिना दोषों की स्थिति सम्भव नहीं है। वे तभी तक रहते हैं जब तक प्राण शरीर में रहते हैं जैसा कि चरक ने कहा है- 'प्राणियों के शरीर में तीन (दोष)- वात, पित्त और कफ निरन्तर बने रहते हैं चाहे वे प्राकृत स्थिति में हों या वैकृत में, वैद्य को उनका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।'[२५] यहां 'नित्याः' इसका सम्बन्ध 'प्राणभृतां' से है इस प्रकार दोष नित्य तभी तक है जब तक प्राणी प्राणों को धारण करता है, अतः उनका नित्यत्व आपेक्षिक है। प्राणियों के शरीर में प्रतिक्षण वे कर्म करते रहते हैं। इस प्रकार उनका नित्यत्व अनवरत क्रियाशील है। प्राण नष्ट होने पर वात-पित्त-कफ की भी क्रियायें बन्द हो जाती है। जैसा कि चरक के निम्नांकित वचन से स्पष्ट है- 'शुक्रस्थानगत (ज्वर) शुक्रमोक्ष करके प्राण को नष्ट कर देता है तब जीवात्मा वात-पित्त-कफ के साथ निकल जाता है।'[२६] इसका अभिप्राय यह है कि शरीर में जब जीव आता है तब उसकी छाया के रूप में प्राण भी प्रविष्ट होता है जो वात-पित्त-कफ को प्रेरित करता है जिनसे जीवन की समस्त क्रियाओं का संचालन होता है। मृत्यु होने पर जब जीवन निकल जाता है तब प्राण और उनके अनुगामी वात-पित्त-कफ भी उसी के साथ चले जाते हैं। इस प्रकार दोषों का प्राणों के साथ अविनाभाव सम्बन्ध सिद्ध होता है और उनके प्रादुर्भाव और तिरोधान का क्रम भी स्पष्ट होता है।

यहां 'प्रकृति' शब्द से दोषानुशयित्वरूपा प्रकृति, प्राकृत कर्म तथा साम्यावस्था (स्वास्थ्य) का बोध होता है, दोष इन सबके हेतु हैं। ये जब विषम होते हैं तब विकृति के कारण बनते हैं। इस प्रकार अवस्था भेद से दोष प्रकृति और विकृति दोनों के कारण हैं। इसी कारण मैंने दोष का लक्षण निम्नांकित रूप में निर्धारित किया है- 'प्राणात्मकत्वे सति प्रकृति विकृतिहेतुत्वं दोषत्वम्' अर्थात् जो प्राणात्मक तथा प्रकृति और विकृति का हेतु है वह दोष कहलाता है।

आयुर्वेद उपवेद होने से धर्म और ब्रह्ममूलक चिकित्सा-पद्धति है। यह जीवों के पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, उत्क्रमण और अधोगति को स्वीकार करने वाली तथा वेदों को प्रमाण मानने वाली और ईश्वर भक्ति का प्रतिपादन करनेवाली चिकित्सा-पद्धति है। यह वैशेषिकों के द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, रूप, षड्विध, भाव पदार्थों को और नैयायिकों के प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान रूप चतुर्विध प्रमाणों को तथा वाद के चौवालिस प्रभेदों[२७] को एवं सांख्यों के त्रिगुणात्मक प्रधान (अव्यक्त प्रकृति) और महत्, अहम् मन, दशविध, इन्द्रिय, तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध संज्ञक, पञ्चतन्मात्राओं एवं आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी संज्ञक, पञ्चमहाभूत, रूप चतर्विंशति अचित् अनात्म वस्तुओं को और अविक्रय विज्ञान, आत्मा, पुरुषसंज्ञक, चिद्वस्तु को स्वीकार करने वाली चिकित्सापद्धति है।

सहायक ग्रन्थ-

१. वेद वाणी - मासिक पत्रिका, अप्रैल २००६

२. कल्याण, आरोग्य अंक - जनवरी, फरवरी २००१ गीता प्रेस, गोरखपुर-२७००५

३. आयुर्वेद दर्शनम् - पी०वी० शर्मा, चौखम्भा विश्व भारती, वाराणसी

४. आयुर्वेद दर्शन - प्रो० रामहर्ष सिंह, चौखम्भा अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी

Vijnana Bharati

सन्दर्भ :

१. सु.सू. १.१५।

२. मनुस्मृति १२/१७।

३. चरक. १.४१।

४. अथर्ववेद २.६.३।

५. च.सू. ३०/२५।

६. च.सू. ३०/२६।

७. चरक.सू. ६/४।

८. च.शा. ३/१३।

९. अ.को. ३.३.२१३।

१०. च.शा. १/८-११।

११. च.शा. १/११।

१२. न्यायसूत्र १.१.१६

१३. सांख्यकारिका २७।

१४. च.शा. १/२.३; सांख्य कारिका २३।

१५. सांख्यकारिका २४।

१६. च.शा. १/५६।

१७. च.शा. १/१६।

१८. च.सू., अ. १।

१९. च.सू. १/५६।

२०. च.शा. १/७४।

२१. न्यायसूत्र १.१.११।

२२. च.शा. ४/१२।

२३. सु.सू. ४१/१२।

२४. सु.सू. १५/३।

२५. च.सू. १८/४८।

२६. च.चि. ३/८२।

२७. च.स.वि. ८।

Vijnana Bharati